धर्म एवं संस्कृति संबंधी प्रेमचन्द के विचार

Dr. Lila Ram

Assistant Professor,
Department of Hindi, SMSD Govt. College Nangal Choudhary,
Mahendergarh, Haryana.

Published In IJIRMPS (E-ISSN: 2349-7300), Volume 11, Issue 5, (September-October 2023)

License: Creative Commons Attribution-ShareAlike 4.0 International License

धर्म शब्द संस्कृत के 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ जो धारण किया जाये। जब क्या धारण किया जाये यह स्पष्ट हो जाए तो वह धर्म बन जाता है। धर्म एक प्रकार के कर्तव्य के द्वारा कुछ समाजोपयोगी तथा आत्मोपयोगी बातों या गुणों को धारण करना कहा जा सकता है। पौराणिक काल में धर्म एक ऐसा आचरण था जिसके द्वारा मानव सभ्यता न्यायपूर्ण जीवन को अपनाऐ और जिसके द्वारा मानवता फले-फूले, उसे धर्म कहा जाने लगा, लेकिन समय हमेशा परिवर्तनशील स्वभाव का होता है। उस बदले हुए समय के चक्र काल ने धर्म दर्शन की परिभाषाऐं ही बदल कर रख दी। धर्म दर्शन के संदर्भ में जो विचार मानवीय विवेक, कर्तव्य बोध, सत्कर्म, सदाचार और न्याय की व्यवस्था पर आधारित थे, वे विचार ही सम्प्रदाय विशेष में कब बदल गए मानव सभ्यता को पता ही नहीं चला। इस तरह धर्म दर्शन का विचार ही अपने मूल अर्थ से कट गया। कुछ दशकों में तो धर्म दर्शन का विचार दिशाहीनता की तरफ चला गया। इस तरह मानव सभ्यता ने धर्म दर्शन के उस सात्विक आचरण को ही दिशाहीन कर दिया, जो किसी समय श्रद्धा का विषय रहा था। प्रेमचन्द धर्म दर्शन के उस सात्विक आचरण के पक्षधर थे। उन्होंने धर्म दर्शन के दिशाहीन रूप को महत्व नहीं दिया। वे तो धर्म दर्शन के उस सात्विक आचरण के पक्षधर बने जिसके द्वारा मानवता की रक्षा और उसका कल्याण हो सके। धर्म दर्शन के संदर्भ पर वे लिखते हैं-"धर्म नाम है उस रोशनी का, जो कतरे को समुद्र में मिल जाने का रास्ता दिखाती है, जो हमारी जात को इमाओस्त में, हमारी आत्मा को व्यापक सर्वात्मा में मिले होने की अनुभूति या यकीन कराती है।"[1] वे धर्म दर्शन की ऐसी व्यवस्था चाहते थे जिसमें मानवीयता का समावेश हो। आदमी जब किसी काम को करने के लिए तैयार हो, तो उसका अन्तर्मन उसे दिशाहीन होने से बचाये, उसे वह सच्चाई दिखाई दे, जिसमें मानवता का पोषण हो। परन्तु धर्म दर्शन के ऐसे सात्विक विचारों में वर्तमान में कमी आयी है। आज "संसार में अनकों मतों और धर्मों के रहते हुए भी जितना वैमनस्य और हिंसा भाव है, उतना शायद पहले कभी न था। आज दो भाई एक साथ नहीं रह सकते। यहाँ तक कि स्त्री-पुरूष में संग्राम चल रहा है।"[2] प्रेमचन्द को यह अनुभव हो गया था कि मनुष्य ने धर्म दर्शन के विचार को ही दिशाहीन और संकीर्ण कर दिया है। मनुष्य ने धर्म के विचार को दायरों में कैद कर दिया है, जिसके कारण दायरों में कैद विचार ही दिशाहीन जीवन जीने की शैली बन गया है। उसी "धर्म के नाम पर हजारों तरह के पाखंड समाज में घुस आये, जिनमें उलझ कर मानव समाज की गति रूक गयी।"[3] जिसके कारण धर्म दर्शन का मूल तत्व ही कहीं गुम हो गया है। ऐसे में प्रेमचन्द धर्म के उन दिशाहीन रूपों और बदली हुई परिभाषाओं के विरोध में खड़े होते हैं, तथा ऐसे में "वे धर्म, वर्ण, सम्प्रदाय और नस्ल जैसी, आदमी और आदमी को विभाजित करने वाली ताकतों से जीवन भर संघर्ष करते रहे।"[4] वे धर्म के नाम पर हो रहे पाखंडों को आड़े हाथों लेते हैं, तथा उन मानवीय मूल्यों को सामने लाते हैं जो धर्म दर्शन के उन दिशाहीन विचारों को संकीर्णता के दायरे से बाहर ला सकें। वे धर्म दर्शन के उन मूल तत्वों को दोबारा स्थापित करने की सोच रखते थे, जो मानवता के पक्षधर थे। उन्हें धर्म के विचार को अलग-अलग दर्शन शाखाओं में बंटना बिल्कुल अच्छा नहीं लग रहा था। इसीलिए "वे एक साथ दोनों धर्मों की कट्टरता की आलोचना करते थे।"[5] उन्होनें बंटे हुए अलग-अलग दिशाहीन हो रहे धर्म दर्शनों को आड़े हाथों लिया। धर्म के विचार के संदर्भ पर वे मानते थे कि धर्म दर्शन के विचार का मूल तत्व आत्मा की एकता है। वे धर्म दर्शन के हृदयग्राही सुन्दर रूप के पक्षधर थे। उन्होंने कभी भी अपने आपको धर्म दर्शन के दायरों में कैद नहीं किया। वे तो धर्म दर्शन के दायरों में कैद रूप को दुःखवाद का नाम देते हैं। वे धर्म दर्शन के इन अलग-अलग रूपों को महत्व देने की बजाय मानवतावादी दर्शन के पक्ष में थे। धर्म दर्शन का मानवतावादी दर्शन ही उनके धर्म दर्शन का स्वरूप था। जहाँ प्रेमचन्द धर्म के विचार के पुरातन रूप के पक्ष में थे, वहीं दूसरी तरफ

संस्कृति के विचार अगर कहीं दिशाहीन होते दिखते तो ऐसे विचारों को भी आड़े हाथों लेते हैं। इस संदर्भ पर वे लिखते हैं- "फिर हमारी समझ में नहीं आता कि वह कौन-सी संस्कृति है, जिसकी रक्षा के लिए साम्प्रदायिकता इतना जोर बांध रही है? वास्तव में संस्कृति की पुकार केवल ढोंग है, निरा पाखण्ड है और इसके जन्मदाता भी वहीं लोग हैं, जो साम्प्रदायिकता की शीतल छाया में बैठे विहार करते हैं।"[6] धर्म दर्शन पर अपने विचार रखने वाले महानुभाव हिन्दू-मुसलमानों में जिस सांस्कृतिक भिन्नता की बात करते हैं, प्रेमचन्द उसे सिरे से खारीज करते हैं। संस्कृति की अवधारणा पर ऐसे संकीर्ण विचार जो आपसी भेद, आपसी घृणा व द्वैष तथा आपसी संघर्ष को उत्पन्न करें, प्रेमचन्द उसे सही नहीं मानते। संस्कृति की अवधारणा के संदर्भ पर वे ऐसी स्वस्थ परम्परा का विकास चाहते थे, जहाँ आपसी घृणा द्वैष, आपसी भिन्नता तथा आपसी संघर्ष का कोई स्थान ना हो। समस्त मनुष्य समाज वसुधैव-कुटुम्बकम के विचार को अपनाये हुए हो, जहाँ वातावरण में अहिंसा की छाँव चारों तरफ हो। प्रेमचन्द तो संस्कृति पर ऐसी अवधारणा चाहते थे जहाँ मनुष्यत्व की बात हो। संस्कृति के विचार को ही वे दिशाहीन सोच का, आडम्बरों का पुलिंदा मानते थे, इस सन्दर्भ पर वे लिखते हैं- "संस्कृति अमीरों का, पेटभरों का, बेफिक्रों का व्यसन है। दरिद्रों के लिए प्राण-रक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है।"[7] क्योंकि संस्कृति के नाम पर जिस तरह मनुष्य इंसान व इंसानियत का पतन कर रहा था उससे मनुष्य समाज का कोई भला नहंीं हो रहा था, उल्टे मनुष्य अपने ही पतन का कारण बन रहा था। ऐसे में यह बेहद जरूरी था कि उन धर्म दर्शनों व संस्कृति सम्बंधी दिशाहीन हो चुके या हो रहे विचारों को इंसानियत की दिशा की तरफ लाया जाए। इस प्रयास में प्रेमचन्द लगातार सार्थक लेखन कर रहे थे। हालाँकि प्रेमचन्द ने संस्कृति के विचार को भ्रम की संज्ञा दी, लेकिन संस्कृति की अवधारणा पर खुले मन मस्तिष्क को अपनाते हुए उन्होने पुरातन भारतीय संस्कृति का पक्ष लिया है। यहाँ वे पुरातन भारतीय संस्कृति का पक्ष उन मानवीय मूल्यों व आदर्शों के आधार पर लेते है जो इंसानियत के पक्षधर थे।

प्रेमचन्द 'धर्म दर्शन' व 'संस्कृति दर्शन' के दिशाहीन हो रहे विचारों के विरोध में अपने आप को आगे लाते हैं। क्योंकि प्रेमचन्द देख रहे थे कि उन दिशाहीन विचारों के कारण ही धर्म दर्शन व संस्कृति की अवधारणाओं में पतनात्मक परिवर्तन हो रहा था। उनमें धार्मिक रूढियों, धार्मिक कट्टरता, अंध विश्वासों ने गहरी पैठ बना ली थी। ऐसे दिशाहीन विचारों के कारण उत्पन्न जीवन विरोधी परिस्थितियों में धार्मिक उन्माद ही पनपते हैं, साम्प्रदायिकता की काली छाँया गहरी हो जाती है, जिसमें मानवता को ही पिसना पड़ता है। लोगों पर धार्मिक उन्मादों का नशा छा जाता है और नशा किसी भी रूप में मनुष्य की चेतना को निगल लेता है। प्रेमचन्द ऐसे हालातों को महसूस कर ही इन दिशाहीन विचारों के विरोध में आते हैं। उन्हें स्पष्ट दिख रहा था कि धर्म दर्शन व संस्कृति दर्शन का दिशाहीन हो रहा विचार मनुष्य को सम्प्रदायों में बाँट रहा है। जिसके कारण साम्प्रदायिकता की उत्पति होती है। प्रेमचन्द उस साम्प्रदायिकता को पनपने नही देना चाहते थे। उन्हें साम्प्रदायिकता की काली छाँया मानवता को निगलते दिख रही थी। इसी कारण वे साम्प्रदायिकता के विरोध में भी लिखते हैं। उन्होंने लिखा है- "साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है।"[8] उन्हें दिख रहा था संस्कृति की बात करने वाला यह समाज अपने-अपने सम्प्रदायों के दायरों में कैद होता जा रहा है। ऐसे माहौल में उस साम्प्रदायिकता की काली छाँया का प्रभाव राष्ट्रीय आन्दोलनों पर भी पड़ा। ऐसा मनुष्यता विरोधी प्रभाव प्रेमचन्द को कचोट रहा था। इसलिए उन्होंने धर्म दर्शन, संस्कृति दर्शन तथा इन दर्शनों के दिशाहीन हो रहे विचारों के करण उत्पन्न साम्प्रदायिकता को आड़े हाथों लिया। ऐसे दिशाहीन माहौल में प्रेमचन्द ने अपने सृजन में किसी भी धर्म व सम्प्रदाय को नहीं बक्शा। लगातार उनके विरोध में लेखन करते रहे। उनकी लेखनी की चोट पर वे समस्त दिशाहीन विचार थे, जो इंसानियत को निगल रहे थे। इस संदर्भ पर डा0 रेणु कुमारी लिखती हैं- "प्रेमचन्द जिस वर्ग में भी साम्प्रदायिकता, धार्मिक उन्माद और पाखंड देखते हैं, उस पर निर्मम प्रहार करते हैं। इस प्रसंग में वे हिन्दू-मुसलमान या ईसाई किसी के प्रति कोई रियायत नहीं बरतते।"[9] वे साम्प्रदायिकता को मनुष्य तथा मनुष्यता के विरोध में देखते हैं। इसी साम्प्रदायिकता के कारण लोगों में वैमनस्य तो बढ़ता ही है, साथ ही साथ किसी देश की राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए भी एक बड़ा खतरा है। प्रेमचन्द ने इसे मनुष्य जाति के लिए एक कोढ़ के रूप में देखा। क्योंकि इसके कारण समाज में दुर्भावना की उत्पति होकर पारस्परिक संहयोग का माहौल समाप्त हो जाता है। साम्प्रदायिकता के संदर्भ पर प्रेमचन्द के ऐसे विचार यह दर्शाते हैं कि उन्हें साम्प्रदायिकता से कितनी चिड़ थी। वे लिखते हैं- "साम्प्रदायिकता अपने घेरे के अन्दर पूर्ण शान्ति और सुख का राज्य स्थापित कर देना चाहती थी, मगर उस घेरे के बाहर जो संसार था, उसको नौंचने-खसोटने में उसे जरा भी मानसिक क्लेश ना होता था।"[10] अंग्रेजी साम्राज्य के दौर में साम्प्रदायिकता जिस तरह सिर उठा रही थी, उससे विवाद बढ ही रहा था। लोग धर्म दर्शन पर ही नही बंट रहे थे बल्कि अन्य मुद्दों पर भी अपनी-अपनी डफली अपना-

अपना राग बजाने लगे थे। उस दौर में भाषा विवाद भी बढ़ गया था। उसमें उर्दू व देवनागरी लिपि पर विवाद ने जोर पकड़ लिया था। ऐसे में प्रेमचन्द ने आपसी एकता स्थापना करने के लिए उर्दू व हिन्दी दोनों भाषाओं को महत्व देते हुए हिन्दूस्तानी भाषा की वकालत की, जो उर्दू व हिन्दी के मैल से बनी हो। उन्होने भाषाई आधार पर दोनों समुदायों हिन्दू व मुसलमानों में भाई चारा कायम करने की दिशा में लेखन किया। उन्होंने अपने लेखन में धर्म दर्शनों व संस्कृति दर्शनों के दिशाहीन हो रहे विचारों से उत्पन्न वैमनस्य को समाप्त करने के लिए दोनों सम्प्रदायों के बीच सहिष्णुता स्थापित करने का प्रयास किया। वे दोनों समुदायों के आपसी हित एक ही मान रहे थे, दोनों समुदायों के इतिहास व उनके उत्पीड़न के रूपों को एक ही मान रहे थे। इसलिए वे चाहते थे कि दोनों समुदाय आपसी द्वैष को छोड़कर देश की आजादी के आन्दोलन में अपना योगदान दें। वे चाह रहे थे कि दोनों समुदाय आपस में एक दूसरे के विरोध में ना खड़े होकर अंग्रेजी साम्राज्य के विरोध में आऐं। आपस में प्रेम व भाई चारा बढ़ाने के लिए वे दोनों समुदाय एक दूसरे की भाषा को जाने, एक दूसरे के साहित्य का अध्ययन करें। दोनों समुदाय मर्यादित ढंग से अपने-अपने उत्सवों को मनाएं, जिससे किसी दूसरे समुदाय में डर व हिसा का भाव ना पनप पाए। दोनों एक दूसरे के प्रति सहिष्णु बने। एक दूसरे की आस्था का सम्मान करें। जिस समुदाय की देश में जनसंख्या अधिक हो, वह अल्संख्यकों के प्रति उदार बने और जिनकी जनसंख्या कम हो, वे सम्मान से जीते हुए बहु संख्यकों के साथ प्रेम से रहें। दोनों समुदाय आपसी भेद छोड़कर व्यापक दृष्टि रखते हुए धर्म दर्शन के मानवतावादी स्वरूप को अपनाए। कुल मिलाकर प्रेमचन्द धर्म दर्शन व संस्कृति दर्शन के दिशाहीन हो रहे विचारों तथा उन दिशाहीन विचारों से उत्पन्न साम्प्रदायिकता से मुक्ति के प्रयास में मानवतावाद दर्शन की बात करते हैं। वे बात करते हैं उस इंसानियत से लबालब धर्म दर्शन व संस्कृति दर्शन की जहां साम्प्रदायिकता के लिए कोई स्थान हो, जहाँ मानव मुक्ति के द्वार खुले हों।

संदर्भ

[1] कुछ विचार- प्रेमचन्द - लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद - 2008 - पृ0सं0 82।
[2] प्रेमचन्द का चिन्तन - नन्द किशोर आचार्य- वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर - प्रथम संस्करणः 2006- पृ0सं0 135।
[3] प्रेमचन्द रचनावली, खण्ड-7 - डा0 रामविलास शर्मा - जनवाणी प्रकाशन, दिल्ली - 2006- पृ0सं0 390।
[4] प्रेमचन्दः सामाजिक द्वन्द्व का ऐतिहासिक अवलोकन - डा0 रेणु कुमारी - बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना- 2014 - पृ0सं0 79।
[5] उपरोक्त – पृ0सं0 83।
[6] प्रेमचन्द का चिन्तन - नन्द किशोर आचार्य - वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर - प्रथम संस्करणः 2006 - पृ0सं0 140।
[7] प्रेमचन्द के विचारः भाग-2 - प्रेमचन्द - प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली - 2010 - पृ0सं0 230।
[8] प्रेमचन्द रचनावली, खण्ड-9 - डा0 रामविलास शर्मा - जनवाणी प्रकाशन, दिल्ली - 2006 - पृ0सं0 24।
[9] प्रेमचन्दः सामाजिक द्वन्द्व का ऐतिहासिक अवलोकन - डा0 रेणु कुमारी - बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना- 2014 - पृ0सं0 74।
[10] प्रेमचन्द के विचारः भाग-1 – प्रेमचन्द - प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली - 2010 - पृ0सं0 323।